पाठ का नाम : साहित्य की प्रमुख विधाओं का सामान्य परिचय
(आख्यानपरक कविता, प्रगीतात्मक कविता, मुक्त-छंद
और छंदमुक्त कविता, नाटक एवं एकांकी)

लेखक : डॉ. रमा
एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
हंसराज महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
09891172389
drrama1965@gmail.com

विषय प्रवेश
आख्यानपरक कविता
प्रगीतात्मक कविता
प्रगीतात्मक कविता के प्रमुख तत्त्व
मुक्त-छंद और छंदमुक्त कविता
नाटक
नाटक के तत्त्व
एकांकी
एकांकी के तत्त्व
स्व-मूल्यांकन प्रश्नमाला
सन्दर्भ-सूची

➢ विषय प्रवेश

साहित्य की विभिन्न विधाओं में सृजन और आलोचना का कार्य कोई नया नहीं है। दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार की साहित्यिक विधाओं के स्वरुप, तत्त्व, विकास आदि को जानना-समझना हमेशा साहित्य के अध्येताओं के लिए महत्वपूर्ण रहा है। इस लेख में भारतीय साहित्य परंपरा और पाश्चात्य साहित्य से प्रेरित और प्रभावित इन साहित्यिक विधाओं के विभिन्न पहलुओं को एक साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। यहाँ हम साहित्य की कुछ प्रमुख विधाओं से परिचित हो सकेंगे, जिसमें आख्यानपरक कविता, प्रगीतात्मक कविता, मुक्त-छंद और छंदमुक्त कविताएँ, नाटक एवं एकांकी शामिल हैं। यहाँ विभिन्न विद्वानों के द्वारा प्रस्थापित अवधारणाओं एवं मान्यताओं के आलोक में ही उपरोक्त साहित्यिक विधाओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

आख्यानपरक कविता

पद्य अथवा कविता का कथानक की क्रमबद्धता के आधार पर तीन भेद किए गए हैं – प्रबंध, निबंध या निबद्ध और तीसरा अनिबद्ध, निर्बन्ध या मुक्त काव्य। प्रबंध काव्य के छंद कथासूत्र की व्यवस्था से पिरोये रहते हैं, उसके छंदों के क्रम को बदला नहीं जा सकता। निबंध काव्य के अंतर्गत छंद किसी विचार-सूत्र या भावधारा से व्यवस्थित रहते हैं। इस रचना में भाव या विचार का विकास क्रमशः दिखलायी देता है, इसी की निबद्धता रहती है। वहीं निर्बन्ध या मुक्त काव्य के छंद स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र रहते हैं और किसी भी क्रम से संचालित किए जा सकते हैं। वे क्रम के किसी आतंरिक नियम से बंधे नहीं होते हैं। आख्यान वह विस्तृत प्रबंध है जिसमें प्रेम, नीति, भक्ति, वीरता आदि के निरूपण के लिए काल्पनिक रोचक कथानक का सरस मधुर शैली में वर्णन होता है। इसके अंतर्गत भी विभिन्न प्रसंग या खंड हो सकते हैं। आख्यान को प्रामाणिक-सा बनाने के लिए इसमें कतिपय ऐतिहासिक स्थानों और नामों का समावेश भी कर लिया जाता है। इसमें एक प्रधान या प्रमुख कथा और अन्य कुछ गौण कथाएँ संघटित रहती हैं। इसके प्रमुख भेद प्रेमाख्यान, नीत्याख्यान, साहसिक आख्यान आदि हैं। जैसे इन्द्रावती, मृगावती, नलोपाख्यान, ढोला मारुरा दूहा, छिताई वार्ता आदि।

आख्यान का स्वरुप सर्वप्रथम वेदों में मिलता है। हिंदी साहित्य शास्त्र में यह शब्द प्रायः कथानक और वृत्तांत के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। **'आख्यान'** शब्द का साधारण अर्थ है कथा, उक्ति आदि। इसके व्यापक अर्थ की परिधि में कथा, कथानक वृत्तांत या अख्यायिका आदि को समेटा जा सकता है, लेकिन **'आख्यान'** का विशेष रूप में प्रयोग ऐतिहासिक कथानक एवं वृतांत के अर्थ में ही किया जाता है। **'आख्यान'** के समानार्थक शब्द 'गाथा' अत्यंत ही प्रचलित है। महाभारत में **'आख्यान','उपाख्यान','कथा पुराण'** और **'इतिहास'** का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है। गाथाओं से आख्यान के विकसित होने की संभावना अधिक मालूम पड़ती है। प्रारंभ में ये आख्यान मौखिक रूप से गाए-सुने जाते थे, बाद में लिखी जाने लगी। आजकल गाथा देवताओं एवं महापुरुषों की स्तुति तथा आख्यान पुरावृत-कथा का द्योतक है।

क्या आप जानते हैं?

डॉ. नगेन्द्र ने आख्यान के सात भेद गिनाये हैं – पौराणिक, निरंजनी, ऐतिहासिक, अध्यात्मपरक, काल्पनिक, प्रेमाख्यान और लोकाख्यान।

आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में ही हमें उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में इतिहास तथा पुराण का उल्लेख मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रंथ के रूप में किया गया मिलता है। वेदों की व्याख्यानप्रणाली के विभिन्न संप्रदायों में यास्क ने ऐतिहासिकों के संप्रदाय का अनेक बार उल्लेख किया है, इस संप्रदाय के व्याख्याकारों की सम्मति में वेदों में महत्वपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं हैं। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। ऋग्वेद में इंद्र तथा अश्विन के विषय में भी अनेक आख्यान मिलते हैं जिनमें इन देवों की वीरता, पराक्रम तथा उपकार की भावना स्पष्ट अंकित की गई है। ऋग्वेद के भीतर 30 आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, इनके अतिरिक्त दानस्तुतियों में अनेक राजाओं के नाम उपलब्ध हैं जिनसे दान पाकर अनेक ऋषियों को उनकी स्तुति में मंत्र लिखने की प्रेरणा मिली। इन स्तुतियों में भी कतिपय आख्यानों की ओर स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं। ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रंथों में भी आख्यानों का विवरण

दिया गया है। इनमें से कतिपय आख्यान तो एकदम नवीन हैं, परंतु कुछ ऋग्वेद में संकेतित आख्यानों के ही परिबृंहित रूप हैं। पुराणों में भी ये आख्यान वर्णित हैं। इस प्रकार वैदिक आख्यानों के विकास की विपुल सामग्री रामायण, महाभारत और पुराणों के भीतर रोचक विस्तार के साथ उपलब्ध होती है।

आख्यानों का तात्पर्य क्या है, इस प्रश्न के उत्तर के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अमरीकी विद्वान डॉ॰ ब्लूमफील्ड ने उन विद्वानों के मत का खंडन किया है जिन्होंने इन आख्यानों की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी विद्वान् पुरूरवा के आख्यान के भीतर एक गंभीर रहस्य का दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि में पुरूरवा सूर्य और उर्वशी उषा है। उषा और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ा ही दीर्घ होता है। वियोगी होने पर सूर्य उषा की खोज में दिन भर घूमा करता है, तब कहीं जाकर फिर दूसरे दिन प्रात:काल दोनों का समागम होता है। प्राचीन भारत के वैदिकों (कुमारिल भट्ट, सायण आदि) की व्याख्या का यही रूप था। परंतु आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वंचित रखना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

इन आख्यानों के अनुशीलन के विषय में दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है - पहला, ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारों को अग्रसर करते हैं और ऐसे व्यापारों का वर्णन करते हैं जो मानव समाज के कल्याणसाधन के नितांत समीप हैं। इनका अध्ययन मानव मूल्य के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिए उपादेय तत्वों का समावेश इन आख्यानों के भीतर करते हैं। दूसरा, उसी युग के वातारण को ध्यान में रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारित करना चाहिए जिस युग में इन आख्यानों का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्यनिर्धारण करना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। इन तथ्यों की आधारशिला पर आख्यानों की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आख्यानों की शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि के निमित्त है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनों परस्पर संबद्ध हैं। मनुष्य यज्ञों में देवों के लिए आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं और अपने प्रसादों की वृष्टि उनके ऊपर निरंतर करते रहते हैं। इंद्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टांत हैं। यजमान के द्वारा दिए गए सोमरस का पान कर इंद्र नितांत प्रसन्न होते हैं और उसकी कामना को सफल बनाते हैं। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) को अपने वज्र से छिन्न-भिन्न कर वे सब नदियों को प्रवाहित करते हैं। वृष्टि से मानव आप्यायित होते हैं। संसार में शांति विराजने लगती है। कालिदास ने इस वैदिक तथ्य को बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त किया है।

कतिपय ऋषियों की चारित्रिक त्रुटियों तथा अनैतिक आचरणों का भी वर्णन वैदिक तथा उनका अनुसरण करनेवाले महाभारत और पुराणों में पाए जानेवाले आख्यानों में उपलब्ध होता है। ये कथानक अनैतिकता के गर्त में गिरने से बचाने के लिए ही निर्दिष्ट हैं। पुराणों में भी ये ही आख्यान बहुश: वर्णित हैं, परंतु इनके रूप में वैषम्य है। तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक आख्यान कालांतर में परिवर्तित मनोवृत्ति अथवा विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति के कारण अपने विशुद्ध वैदिक रूप से नितांत विकृत रूप धारण कर लेते हैं। विकास की प्रक्रिया में अनेक अवांतर घटनाएँ भी उस आख्यान के साथ संश्लिष्ट होकर उसे एक नया रूप प्रदान करती हैं, जो कभी-कभी मूल आख्यान के नितांत विरुद्ध सिद्ध होता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रगीतकाव्य एवं आख्यान काव्य को मुक्तक काव्य के भेद के रूप में माना गया है। जबकि पाश्चात्य साहित्य में **'कोरस'** एवं **'बैलेड'** तथा **'लिरिक'** के अंतर्गत माना गया है। मनुष्य सभ्यता के आरम्भ से ही अपने हर्ष-विषाद को सामूहिक नृत्य, गीत एवं काव्य के सहारे व्यक्त करता था। सभ्यता के विकास के साथ नृत्य, गीत एवं काव्य सब अलग हो गए। यह गान शुद्ध लिरिक नहीं था बल्कि इसमें कथात्मकता थी। यही कथा आगे चलकर प्रबंध, पुराण आदि में विस्तृत हो गई।

आख्यान काव्य के मूल बिन्दुओं की स्थापना करते हुए सी.डब्ल्यू.पी. के. ने कहा कि आख्यान एक गीतात्मक वर्णनप्रधान काव्य होता है। सभी आख्यान गीति गीतात्मक होती है जो या तो प्रसिद्ध मूल वाली होती है या जो जनकाव्य के लोकप्रिय रूपों को ग्रहण करके चलती है। इनका प्रसार सम्पूर्ण जाति में होता है। यह केवल वर्णनात्मक नहीं बल्कि यह गीतात्मक काव्यरूप में वर्णनात्मक कविता है। इस प्रकार के आख्यान में व्यक्ति तत्त्व बिलकुल अप्रधान रहता है और समाज का सामूहिक व्यक्तित्व प्रधान हो जाता है। डॉ. नगेन्द्र ने आख्यान के सात भेद गिनाये हैं – पौराणिक, निरंजनी, ऐतिहासिक, अध्यात्मपरक, काल्पनिक, प्रेमाख्यान और लोकाख्यान। हिन्दी में आल्हखंड इस श्रेणी की कविता का सबसे सटीक उदहारण है।

प्रगीतात्मक कविता

काव्यशास्त्रियों ने बंध की दृष्टि से काव्य के दो भेद किए हैं – प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य। प्रथम में सानुबंध कथा होती है, दूसरे में कथा का अभाव होता है, केवल एक विशिष्ट भाव या अनुभूति को ही उसमें सम्मिलित किया जाता है। ग्रीस में आरम्भ में **'लायर'** नामक वाद्य-यन्त्र पर गाये जाने वाले गीतों को **'लिरिक'** कहा जाता था, पर बाद में सभी प्रकार के गेय-काव्य को **'लिरिक'** की संज्ञा मिलने लगी; उसी प्रकार हमारे यहाँ भी पहले गेय गीतों को ही गीत कहा जाता था, पर अब गीतिकाव्य का क्षेत्र अत्यंत विशाल और विस्तृत हो गया है।

हिंदी में साधारणतः गीत, प्रगीत तथा गीति-काव्य ये तीन शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से वस्तुतः गीति-काव्य का प्रयोग 'लिरिक' के लिए तथा गीत और प्रगीत का प्रयोग 'सॉंग' के लिए किया जाता है। **'प्रगीत'** शब्द गीत में **'प्र'** उपसर्ग जोड़कर बनाया गया है। उसमें गेय तत्त्व प्रधान होता है और कवि अपने हृदय के हर्ष-विषाद को व्यक्त करता है। इसीलिए महादेवी जी ने गीत की परिभाषा देते हुए लिखा है – *"गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"*

चित्र : महादेवी वर्मा

साभार : http://forum.banglalibrary.org/topic2045-woh-chini-vai-mohadevi-varma.html

गीतिकाव्य की आत्मा है भाव, जो किसी के भार से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है। जाहिर है उसमें सदयता का तत्त्व रहता है। सच्ची गीति-कविता एक सरल, सद्यः भावावेग का परिणाम है। इसी मनोयोग से उसका अंतर्बाह्य एक साथ झंकृत हो जाता है। उसमें उत्कट भावना होती है। केवल एक ही भावना पर बल होने के कारण गीति-कविता संक्षिप्त, लघुकाय और सुसंबद्ध होती है। उसमें न तो विविध भावनाओं का संघर्ष होता है, न ब्यौरे और न अनावश्यक विस्तार।

गीतिकाव्य के सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। हरिवंशराय बच्चन के अनुसार –

" गीत हजारों वर्षों से गाए जा रहे हैं पर उनका मूल रूप जो आरम्भ में रहा होगा आज भी है – भावों की तीव्रता, उनकी एकता और उनकी गेयता।"

विद्यानिवास मिश्र के अनुसार –

"वस्तुतः गीत विधा नहीं है, कवि की एक वृति विशेष है। यह वृत्ति उसकी एकरूपता, अनुभव की बेसंभाल बेचैनी, खंड में समग्र को पाने वाली दृष्टि तथा इन सबको अपने भीतर की लय से जोड़ने की लीला का समाहित रूप है।"

वहीं पाश्चात्य विद्वान अर्नस्ट राईस ने गीतिकाव्य में भावों की प्रधानता पर बल देते हुए कहा कि –

"गीतिकाव्य एक ऐसी संगीतमयी अभिव्यक्ति है जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य रहता है।"

हडसन ने गीतिकाव्य के स्वरुप को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है – *'वैयक्तिकता की छाप गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी है किन्तु वह व्यक्ति वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवी भावनाओं पर आधारित होती है जिससे पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर सके।"*

- **प्रगीतात्मक कविता के प्रमुख तत्त्व**

गीति-कविता के प्रमुख तत्त्व हैं – आत्माभिव्यक्ति, कल्पनाशक्ति, गेयता, भावप्रवणता, संक्षिप्तता, कोमलकांत पदावली, प्रवाहमयी शैली, चित्रात्मकता, रसात्मकता।

➢ आत्माभिव्यक्ति

गीति-कविता व्यक्ति प्रधान काव्य के अंतर्गत आती है, उसका दृष्टिकोण विषयपरक नहीं होता। इसका रचयिता अपने हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, लज्जा-ग्लानि, क्षोभ आदि को व्यक्त करता है, अपने तीव्र मनोभावों का अंकन करता है, अतः इसमें व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता रहती है। गीति की दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित, वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ रहती है।

➢ कल्पनाशक्ति

गीति रचना में भाव की प्रधानता तो है ही परन्तु उन भावों को कल्पना के जरिये विस्तार देना होता है। जैसे वाल्मीकि का आरंभिक भाव कल्पना का सहारा पाकर सम्पूर्ण महाकाव्य बन गया। कवि, गीतकार अपने मूल भाव को अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर नए रंगों से भर देता है।

➢ गेयता

उत्तम गीति-कविता संगीतमय होती है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि वह स्वर-लय के नियमों से बंधी हुई हो, तथापि संगीत उसका अनिवार्य गुण है। यह संगीत शब्द का संगीत भी हो सकता है और लय का भी। कई बार तो सामान्य भाव वाले गीत भी केवल अपनी गेयता के कारण लोकप्रिय हो जाते हैं। यह एक ऐसा तत्त्व है जो गीत को युगों-युगों तक अमर रखता है। सूर, कबीर, तुलसी, मीरा के गीत आजकल इसी कारण आम आदमी की जुबान पर जिन्दा हैं।

क्या आप जानते हैं?

ग्रीस में आरम्भ में **'लायर'** नामक वाद्य-यन्त्र पर गाये जाने वाले गीतों को **'लिरिक'** कहा जाता था, पर बाद में सभी प्रकार के गेय-काव्य को **'लिरिक'** की संज्ञा मिलने लगी।

➢ भावप्रवणता

प्रगीत काव्य का मूल स्रोत करुणा को माना गया है। आदि कवि वाल्मीकि का वह प्रसिद्ध श्लोक क्रौंच पक्षी के करुण-क्रंदन का ही सूचक है, इतना ही नहीं, सुमित्रानंदन पन्त के शब्दों में –

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।।"

किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि दुखात्मक अनुभूति ही गीत होती है। इसका अर्थ केवल यह है कि गीत या प्रगीत हृदय की अत्यंत तरल भावातिरेक की अवस्था का सूचक होता है। भाव-प्रवणता ही उसका मूल तत्त्व ठहरता है। यहाँ भावों का स्वतः प्रवर्तन होता है – *"spontaneous overflow of powerful feelings."*

➢ संक्षिप्तता

संक्षिप्तता भी प्रगीत काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है। भावों के प्रबल आवेग की स्थिति लम्बे समय तक नहीं रह सकती। अधिक विस्तार देने से भाव की सघनता और तीव्रता के कम होने की आशंका रहती है। कल्पना के कृत्रिम प्रयोग से जब कवि अनुभूति का विस्तार करता है तो गीतिकाव्य की आत्मा को हानि पहुँचती है। इसी कारण गीतिकाव्य का छोटा आकार प्रभावशाली होता है।

➢ कोमलकांत-पदावली

गीतिकाव्य में मनुष्य के कोमल भावनाओं के अनुरूप ही कोमल, सुन्दर एवं कलात्मक भाषा-शैली का प्रयोग होता है। छायावादी कवियों ने खड़ी बोली को माँज-माँजकर उसे परिष्कृत कर कोमल बनाने का काम किया। छायावादी गीतकारों के गीत हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। महादेवी के गीतों में कोमलकांत पदावली की योजना और उसका प्रभाव अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। कोमलकांत पदावली से युक्त प्रगीतों में भावों की सुकुमारता के साथ-साथ उसकी भाषा भी सरल, मधुर और व्यंजक है।

➢ प्रवाहमयी शैली

प्रगीत-काव्य की शैली में निर्बाध प्रवाह होना चाहिए, सरलता उसका मुख्य गुण है। यदि पाठक को बीच-बीच में रुकना पड़े तो यह गीतिकाव्य की असफलता है।

➢ चित्रात्मकता

प्रगीत काव्य में अपने भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए गीतकार को शब्द-चयन के प्रति अत्यंत ही सतर्क रहना पड़ता है। वह सार्थक, औचित्यपूर्ण, लाक्षणिक, व्यंजनात्मक शब्दों का प्रयोग करता है तथा अपनी चित्रात्मक भाषा द्वारा अपनी अनुभूतियों को पाठकों के हृदय में साकार रूप प्रदान करना चाहता है।

➢ रसात्मकता

प्रगीत काव्य में ऐसे तत्वों की योजना की जाती है जिससे श्रोता या पाठक का मन उल्लास से भर जाए। वाग्विदग्धता, उक्ति-वैचित्र्य एवं अन्य प्रकार के चमत्कारों की योजना करके गीत को रोचक और रंजक बनाया जाता है। गीत में ऐसी शक्ति की अपेक्षा होती है जो पाठकों या श्रोताओं को आनंद और रस से सराबोर कर दे।

महादेवी वर्मा के प्रसिद्ध गीत 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' सुनने के लिए इस लिंक को क्लिक करें –
http://www.youtube.com/watch?v=wGqTEwDqtgo

कुल मिलाकर देखें तो, गीतिकाव्य अनुभूति-प्रधान काव्य है। इसमें सामान्य वर्णन किसी घटना, तथ्य या भाव का न होकर, कवि की अनुभूति के माध्यम से प्रकट होता है, अतः उसका तीव्र प्रभाव पड़ता है। इसके तहत कवि की आत्मा और भावनाएं झांकती हैं। अतः स्वानुभूति गीतिकाव्य का प्रधान तथ्य है। अनुभूति की तीव्रता में कवि के उद्गार सहज प्रवाहित हो उठते हैं। यहाँ भाव का हम बार-बार अनुभव करना चाहते हैं। स्वर की संक्षिप्ति और विस्तृति अनुभूति को सजग करती है, कोमलता मधुर लगती है, अतः स्वानुभूति गीत के माध्यम से ही सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पाती है। काव्य का यह सहज नैसर्गिक और मनोरम रूप होने के कारण प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने इसे काव्य का प्राकृत रूप माना है। इस प्रकार गीति-भावना कविता की सारवस्तु है।

नागर एवं पुस्तकबद्ध काव्य के अतिरिक्त मौखिक परंपरा में प्रचलित लोककाव्य है। लोककाव्य या साहित्य के रचयिता अज्ञात हैं। युगीन और स्थानीय प्रतिभाएं उसमें वृद्धि करती जाती हैं और इस प्रकार लोककाव्य परिष्कृत और समृद्ध होता रहता है। लोककाव्य प्रधानतया लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों, कहावतों और मुहावरों के रूप में पाया जाता है। इनमें प्रथम दो का प्रभावपूर्ण स्थान है। लोककथाएँ अपनी रोचकता के कारण प्रसिद्ध है और लोकगीत अपनी भावुक मर्मस्पर्शिता के कारण। लोकगीत हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। लोकगीतों के असंख्य रूप हमारे गाँवों में प्रचलित हैं। इनमें प्रमुख भेद हैं – संस्कार गीत, उत्सव-त्यौहार-गीत, ऋतु-गीत, धार्मिक-गीत, दिनचर्या गीत आदि ।

इन गीतों में उल्लास-विषाद, आशा-निराशा, विवशता-आकांक्षा, चिंता-मस्ती आदि भावनाओं को व्यक्त करनेवाले सहज उद्गार हैं। इनमें हमारी संस्कृति, सामाजिक दशा, सामाजिक इतिहास तथा जीवन के सजीव चित्र मुग्धकारी रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

मुक्त-छंद और छंदमुक्त कविता

साहित्य चिंतकों की मान्यता रही है कि छंद में आत्मा के साम्यरस की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए कविता भी समरस पंक्तियों में व्यक्त होनी चाहिए। होल्डरलिन का कहना है कि आत्मा के नियम छंदमय होने चाहिए। पश्चिम में जब स्वच्छन्दतावाद का उदय हुआ, तो कवियों ने छंद के दृढ बंधनों का विरोध किया और अपनी रचनाओं को उनसे मुक्त करने का प्रयास किया। मुक्ति के इसी प्रयास के फलस्वरूप मुक्त-छंद का उदय हुआ। फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंड में प्राचीन छंद विषयक सिद्धांतों को लचीला बनाने का प्रयास किया गया और नवीन छंदों का निर्माण होने लगा। किन्तु दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के बावजूद छंद पर विश्वास बना रहा और नवीन छंद पुराने छंदों के संयोग का ही फल थे। नोवालिस में सबसे पहले उस प्रवृत्ति का आभास मिलाता है, जो बाद में चलकर मुक्त-छंद के रूप में मुखर हुई। उसकी रचना की पाण्डुलिपि तो छंदों में थी, किन्तु छपे रूप में वह गद्य-खण्डों के रूप में प्रस्तुत की गई। कुछ अरसे के बाद ऐलायसिस बर्ट्रेंड ने गद्य-काव्य का पहला संग्रह छपवाया, किन्तु यह रचना लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं कर सकी। बाद में बोदलैर ने इसे अपना आदर्श बनाया। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावाद के बाद जो वाद – कलावाद, प्रतीकवाद आदि – प्रचलित हुए वे कविता के लिए पद्य को स्वीकार करते थे। उन्होंने फ्रांसीसी छंदों की संख्या में वृद्धि की और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति को अस्वीकार कर दिया।

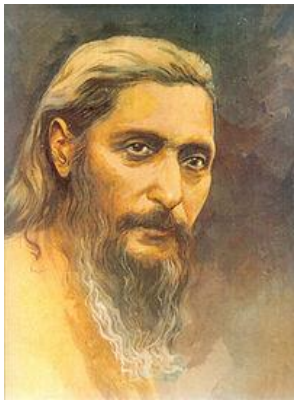

चित्र: निराला

साभार:http://hi.bharatdiscovery.org/india/%E0%A4%B8%E0%A5%82%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A5%8D%E0%A4%A4_%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%BF%E0%A4%AA%E0%A4%BE%E0%A4%A0%E0%A5%80_'%E0%A4%A8%E0%A4%BF%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%B2%E0%A4%BE'

यह कहा जाता है कि सबसे पहले डेला रोका दी वर्गेलो और कवयित्री मैनी क्रिसिस्का ने मुक्त-छंद की रचना की। किन्तु कुछ लोगों के मत में वे मुक्त-छंद न होकर गद्य-गीत ही थे। 1886 में प्रतीकवादी पत्रिका **'ल वोग'** में रैम्बो की दो रचनाएं मुक्त-छंद में प्रकाशित हुई। दूसरे अंक में उसके संपादक गुस्ताव की मुक्त-छंद कविता प्रकाशित हुई तथा लाफोर्ग ने वाल्ट व्हिटमैन के **'लीव्स ऑफ़ ग्रास'** के कुछ अंशों का मुक्त-छंद में अनुवाद किया। उसके बाद वीलेग्रिफिन, वर्हरेन एवं मालार्मे आदि ने भी मुक्त-छंद का प्रयोग किया। गुस्ताव ने सबसे पहले मुक्त-छंद का प्रयोग किया और उसकी सैद्धांतिक व्याख्या भी। इसलिए उसे मुक्त-छंद का आविष्कारक भी माना जाता है। उसने कहा कि मुक्त-छंद का केंद्र लघुतम इकाई है, जो अर्थ एवं ध्वनि—दोनों दृष्टियों से इकाई हो। ऐसी इकाइयों की लड़ी मुक्त-छंद कहलाती है। मुक्त-छंद में एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है और मुक्त पंक्ति में एक विचार गुम्फित होता है। गुस्ताव के अनुसार मुक्त छंद की लय उच्चारण के बलाघात पर निर्भर करती है। डि सूजा ने गुस्ताव के विचारों को पूर्णता प्रदान की और यह कहा कि मुक्त-छंद का निर्णायक विचारैक्य है, कल्पना का ऐक्य नहीं। उसने गणित पर आधारित छंदों के समरस को अस्वीकार कर उनके स्थान पर विचार एवं तर्क पर आधारित समरस की प्रतिष्ठा की। टूजार्डिन डी वीसाँ ने भी मुक्त छंद की व्याख्या की है। उनके मत में यदि अक्षरों अथवा शब्दों की लयात्मक इकाइयों में केवल भिन्नता ही हो, तो यह शैली गद्य कहलाती है। मुक्तछंद में लयात्मक इकाइयों की पुनरावृत्ति होती है। डी वीसाँ ने कहा कि प्राचीन छंद के बंधन आंतरिक हैं। किन्तु वर्तमान विचारधारा इस मत को स्वीकार नहीं करती और यह मानती है कि प्रत्येक मुक्त या मात्रिक छंद आतंरिक रूप से स्वच्छंद और बाह्य रूप से नियंत्रित है। वस्तुतः **'मुक्त-छंद'** में विशेषण की अपेक्षा विशेष्य ही अधिक महत्वपूर्ण है।

मुक्त छंद में तुक का प्रयोग यदा-कदा और आकस्मिक रूप से ही होता है। अमरीका में व्हिटमैन की रचना मुक्त छंद का आदर्श समझी जाती है। आज वे लोग मुक्त-छंद का विशेष रूप से प्रयोग करते हैं जो एक ओर तो जीवन की विषमता, असंगति आदि की चर्चा करते हैं और दूसरी ओर सामूहिक सामाजिकता पर बल देते हैं। प्रायः या तो यह रुग्ण भावों की अभिव्यक्ति होती है या प्रचार का साधन, किन्तु इधर अमरीकी और इतालवी कवियों ने मुक्त-छंद का भी सरस और काव्योचित प्रयोग किया है तथा छोटी-छोटी पंक्तियों एवं संतुलित योजना द्वारा उसे प्रभावोत्पादक बनाया है। इस प्रकार मुक्त-छंद वस्तुतः कविता को छंद के रुढ बंधनों से मुक्ति प्रदान करता है और कवि को शब्दों की शक्ति एवं ध्वन्यात्मकता का सूक्ष्म निरीक्षण करने की प्रेरणा देता है।

हिंदी-काव्य में मुक्त-छंद का सर्वप्रथम प्रयोग निराला ने किया था। किन्तु सब लोगों ने उसे **'केंचुआ-छंद'** और **'रबड़-छंद'** कहकर उसका उपहास किया था। फिर भी निराला की अदम्य प्रतिभा का सहारा पाकर मुक्त-छंद खूब चल पड़ा। किन्तु इधर प्रयोगवादियों के हाथों में पड़कर इसकी भी वही दुर्दशा हुई जैसी कि पश्चिम में हुई थी। यहाँ भी यह रुग्ण भावनाओं एवं विशृंखल विचारों की अभिव्यक्ति एवं प्रचार का साधन बन गया है।

क्या आप जानते हैं?

मुक्त छंद का जनक फ्रेंच कवि गुस्ताव काह्न को माना जाता है, जिन्होंने इसकी सैद्धांतिक व्याख्या की।

दरअसल मुक्तछंद की कविताओं के द्वारा छंद की रुढियों और प्रतिबंधों से मुक्ति पाना, भाषा की लयों की सहजता एवं वैविध्य की रक्षा करना तथा काव्य-अभिव्यंजना के नए रूपों का विकास करना था। हिंदी में मुक्त छंद को लेकर एक समय पर्याप्त मतभेद और विवाद चला था। डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने इसे **'पश्चिमी बीज का पूर्वी अंकुर'** कहा है। वास्तव में आधुनिक भारतीय काव्य के रूप-विधान पर पाश्चात्य प्रभाव निर्विवाद रूप से पड़ा है। **'निराला'** ने मुक्त छंद का रूप प्रस्तुत मुक्त छंद में स्पष्ट करने का प्रयास किया है:

"अलंकार लेश-रहित।
श्लेषहीन।
शून्य विशेषणों से –
नग्न नीलिमा-सी व्यक्त।
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी –
मुक्त छंद सहज प्रकाश वह मन का –
निजी भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।"

मुक्त छंद का हिंदी में आरम्भ में घोर विरोध हुआ। तत्कालीन भाषानुशासक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मुक्त-छान्दकारों को **'अहमवादी'** विशेषण से स्मरण किया, किन्तु फिर भी मुक्त-छंद का ज्वार हिंदी में रुका नहीं। **'मुक्त-छंद'** ने परंपरागत नियमों का उल्लंघन करके अपनी प्रतिष्ठा की और **'रबड़-छंद','केंचुआ-छंद'** आदि अनेक व्यंग्यात्मक नाम अर्जित किए। वस्तुतः हिंदी में सिद्धांत और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में मुक्त-छंद की प्रतिष्ठा का श्री मूलतः 'निराला' को ही है। *'मुक्त-छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है, वही उसे छंद सिद्ध करता है और उसका नियमाराहित्य उसकी मुक्ति' ('परिमल' की भूमिका)*। पन्त ने भी मुक्त-छंद की विजय का उद्घोष इन शब्दों में किया:

"खुल गए छंद के बंध,
प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त औ
युगवाणी बहती अयास।"

'निराला' ने इसे स्वर-प्रधान नहीं, अपितु व्यंजन-प्रधान माना, वह कविता की स्त्री-सुकुमारता नहीं, कवित्व का पुरुष गर्व है। इस मुक्त-छंद की विशेषताएं इस प्रकार हैं - प्रत्येक पंक्ति की रूपगत अन्तरंग एकता पर बल, मात्रा आदि की स्थिर संख्या के नियमों से मुक्ति, तुक, यति आदि के नियमों से मुक्ति।

छंदमुक्त कविता से अभिप्राय ऐसी कविता से है, जिसमें वाक्य बिना तुक की छंदबद्धता के होते हैं, और गद्यात्मकता के कारण लगभग गद्य के वाक्य लगते हैं। हिन्दी की छंदमुक्त कविता भावबोध के स्तर पर सामाजिक यथार्थ-बोध की कविता है। इन कवियों की

सोच पुराने छायावादी कवियों की कथन-भंगिमा से भिन्न है। इन कवियों की कविता इसी प्रकार की सपाटबयानी की कविता है। इनकी कविता में गरीब, सर्वहारा का वर्णन था। इन कवियों के काव्य में गरीबी, भुखमरी, आदि के चित्रण थे। छायावादी कविता ने अपने जिस रचना-विधान को विकसित किया था, उसका पूरा उपयोग छायावाद के समर्थ कवियों ने कर लिया था...उस तरह के विधान में उसके बाद कविता लिखने का अर्थ था परंपरावादी होना। जनवादी कविता रचना-विधान के स्तर पर ऐसे संघर्ष से थी कि रचना-विधान का बंटाधार हो गया। सियासी दांवपेंच और संघर्ष रघुवीर सहाय व नागार्जुन की कविता में जगजाहिर थे।

क्या आप जानते हैं ?

छायावाद में प्रायः रोला और घनाक्षरी की लय पर ही मुक्तछंद लिखे गए, लेकिन प्रयोगवाद में सवैया तथा अन्य प्राचीन छंदों की लय का मुक्त ढंग से उपयोग किया गया।

कविता अनायास ही छंदमुक्त नहीं हो गई। छंदमुक्त कविता लिखे जाने की शुरुआत तब हुई जब जिंदगी की लय टूटने लगी. उसकी सांसे बाधित होने लगीं, जिंदगी जटिलतर होती गई फलस्वरूप कविता की लय भी टूटने लगी। पहले जिंदगी, बेफिक्र, निश्चिंत, निरापद थी वह धीरे-धीरे मुश्किल होती गई। जटिल जीवनबोध को वाणी देने के लिए गीत उतने कारगर नहीं साबित हुए क्योंकि प्रेम या करूणा को तो गाकर कहा जा सकता था, किंतु समय का संत्रास, उसकी घुटन, उलझे हुए सामाजिक सम्बन्धों को व्यक्त करने में छंद असमर्थ होते गए और इसका आरम्भ **'निराला'** के समय से ही हो गया था। जिस रचना में छन्द शास्त्र का कोई नियम नहीं होता। न मात्राओं की गणना होती है और न वर्णों की संख्या का विधान। चरण विस्तार में भी विषमता होती हैं। एक चरण में दस शब्द हैं तो दूसरे में बीस और किसी में केवल एक अथवा दो ही होते हैं। इन रचनाओं में राग और श्रुति माधुर्य के स्थान पर प्रवाह और कथ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शब्द चातुर्य, अनुभूति की गहनता और संवेदना का विस्तार इसमें छांदस कविता की भाँति ही होता है। यथा-

"वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर वह तोड़ती पत्थर
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकर
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय–कर्म–रत–मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार–बार प्रहार –
सामने तरू–मालिक अट्टालिका आकार।
चढ़ रही थी धूप
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप
उठी झुलसाती हुई लू,
रूई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई
प्रायः हुई दोपहर –
वह तोड़ती पत्थर।"

छंदमुक्त कविता के कुछ कवियों ने अपने समय की सामाजिक उथल-पुथल को अपने काव्य का विषय बनाया है। अत: कवि को कोमलकांत पदावली का मोह छोड़कर यथार्थ की कठोरता पर उतरना पड़ा है। लेकिन कभी-कभी उनकी अभिव्यंजना की कला को भदेस तक भी ले जाती है। इसलिए वे शासन तंत्र को भंग करने के साथ भाषातंत्र को भी भूलना चाहता है। छंदमुक्त कविता के कवियों में से कुछ कवि जो अपने को मौलिक और उत्साही साबित करना चाहते हैं, प्रस्थापित मूल्यों को भी अस्वीकार करने में अभिधा शैली से अभिव्यक्ति का जोश दिखाना नहीं भूलते। छंदमुक्त कवि की भाषा शासनतंत्र के साथ संपूर्ण भाषा सौष्ठव पर कब्जा छोड़ना चाहती है। यह देहाती भाषा दैनिक देहाती सोच व अनुभव के अनुरूप सपाट, खुरदरी होती है। भाषा के प्रयोग में इनको कोई झिझक और संकोच नहीं था। कर्कश और खुरदरी साधारण भाषा इनका अवलंब है। नई कविता के छंदमुक्त के विषय में विस्तार से कुछ कहना आवश्यक नहीं है। भाषा के अभिजात्य संस्कार से बहुत दूर होकर सपाट-बयानी तथा और अनगढ़ वाक्य विन्यास और शब्द योजना ही इस कविता के लक्षण हैं।

भाषिक प्रयोगों की दृष्टि से नयी कविता में सपाटबयानी और अस्पष्टता अनेक कवियों में सैद्धांतिक रूप में स्वीकार्य है। बिम्बों और प्रतीकों के अर्थों के अनेक स्तर इस अस्पष्टता की वृद्धि करते हैं। बिम्बों में सपाटता की सम्भावना और बढ़ जाती है। वर्जित (या ग्राम्य) शब्दों के प्रयोग का फैशन छंदमुक्त कविता के नागार्जुन, शमशेर, रघुवीर सहाय आदि में बहुत चला है। ऐसे प्रयोगों की प्रेरणा भद्रता-विरोधी चिंतन से भी मिलती रही। छंदमुक्त कविता में समाज के प्रति रवैया भिन्न-भिन्न है। छंदमुक्त कविता में समाज में संकट ने तनाव, घिराव, असमंजस और द्वंद्व के साथ-साथ संघर्ष चेतना विकसित की तो कई जगह इस संकट के फलस्वरूप कुंठाएँ, निरर्थकता-बोध उभरा।

नाटक

काव्य के दो प्रमुख भेद माने गए हैं – दृश्य और श्रव्य। रसास्वादन एवं प्रभावात्मकता दोनों ही दृष्टियों से दृश्य काव्य, श्रव्य काव्य से श्रेष्ठ माना गया है। नाटक दृश्य काव्य का अंग है। **'काव्येषु नाटकं रम्यम'** के अनुसार काव्य में नाटक अधिक रमणीय होता है। क्योंकि यही एक ऐसी विधा है जिसमें अभिनय, संगीत, नृत्य, चित्र-कला, मूर्ति-कला, वस्त्राभूषण, भाषण, वार्तालाप आदि सभी कलाओं का संगम रहता है तथा पात्रों की प्रत्यक्ष सजीव मुद्राएं, चेष्टाएँ ऐसी मनोहारी रूप में प्रकट हो सकती हैं, होती हैं कि दर्शक मंत्रमुग्ध सा उसमें तन्मय हो जाता है। साथ ही श्रव्य-काव्य शिक्षितों से सम्बंधित है परन्तु दृश्य काव्य सामान्य जनता की वस्तु है। उसके मनोविनोद और हित के लिए नाटक या दृश्य का निर्माण हुआ है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने दृश्यकाव्य के लिए नाट्य शब्द का प्रयोग किया

है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति नट' धातु से है जिसका अभिप्राय अनुकरण करना है। जिसमें सभी प्रकार के मानवों के चरित्रों और भावों का अनुकरण किया जाता है, वही नाटक है। सिद्धांत कौमुदी में नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है – **'वाक्यार्थभिनयोर्नाट्यम'** – अर्थात वाक्यार्थ का अभिनय ही नाट्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि नाट्य अभिनय प्रधान विधा है। बाबू गुलाब राय के अनुसार –

"नाटक का सम्बन्ध नट से है, अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते हैं। इसी में नाटक शब्द की अधिक सार्थकता है।"

नाटक के अभिनय के पक्ष के आधार पर निकल ने कहा है – *"Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."*

अर्थात् नाटक जीवन की प्रतिलिपि प्रथाओं का दर्पण और सत्य का प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार नाटक मूलतः मंचीय विधा है, लेकिन चूँकि वह प्राथमिक स्तर पर शब्दबद्ध रचना है इसलिए वह पाठ्य विधा है, जिसमें पाठक का मन ही मंच का कार्य करता है।

- **नाटक के तत्त्व**

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व निर्धारित किए थे – वस्तु, नेता और रस। परन्तु समकालीन सन्दर्भ में ये तीन तत्त्व ही स्वीकार नहीं किए जा सकते, बल्कि इनका पुनर्निर्धारण निम्न भेदों में किया जाता है।

1. कथावस्तु
2. पात्र और चरित्र-चित्रण
3. कथोपकथन अथवा संवाद
4. देशकाल अथवा वातावरण
5. अभिनेयता
6. भाषा-शैली
7. उद्देश्य

➢ कथावस्तु

नाटक कथा-साहित्य है, अतः कथावस्तु उसका मूल तत्त्व है। कथा और कथा-रस के बिना उसका स्वरुप ही निर्मित नहीं होता। महत्व की दृष्टि से कथावस्तु के दो प्रमुख भेद हैं – आधिकारिक, प्रासंगिक। प्रधान पात्र या नायक से सम्बंधित आधिकारिक कथावस्तु कहलाती हैं और प्रधान कथा का पोषण और सहायता करनेवाली प्रासंगिक कथावस्तु होती है। भारतीय विद्वानों के अनुसार कथानक में पांच कार्यावस्थाओं, पांच अर्थ प्रकृतियों और पांच संधियों का होना आवश्यक है।

क्या आप जानते हैं?

भारतीय आचार्यों ने कथा-विकास की दृष्टि से नाटक में कार्य-व्यापर की पांच अवस्थाएं बताईं हैं- प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियतापि, फलागम।

नाटक में उद्देश्य या फल की प्राप्ति के लिए जो कुछ भी किया जाता है उसे कार्य कहते हैं। यह नाटक में प्रारंभ से लेकर अंत तक फैला रहता है। नाटक का कथानक जब अंत में जाकर पूर्ण विकास प्राप्त करता है तो उसमें विकास की पांच अवस्थाएँ दिखाई देती हैं – प्रारंभ, प्रयत्न, प्रप्राशा, नियतापि और फलागम। इच्छित फल की प्राप्ति के लिए कथानक में जो प्रयत्न या साधन दिखाई देते हैं उन्हें पांच श्रेणियों में रखा गया है। ये चमत्कारपूर्ण अंश या साधन अर्थप्रकृतियाँ कहलाते हैं। बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पांच अर्थप्रकृतियाँ मानी गयी हैं। कथानक में कार्य की अवस्था और अर्थप्रकृतियों को जोड़ने वाली संधियाँ होती हैं। ये संधियाँ एक-एक अवस्था की समाप्ति तक चलाती हैं। ये पांच संधियाँ हैं- मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वासन या उपसंहार।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय आचार्यों ने अपने युग के नाटकों को दृष्टि में रखकर कथावस्तु का इतना सूक्ष्म विवेचन किया था। आज नाटक के स्वरुप में बहुत बदलाव आ गया है, इसलिए कुछ विद्वानों ने इस पर आपत्तियां व्यक्त करते हुए इसे व्यर्थ बताया है।

➢ पात्र और चरित्र-चित्रण

भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक का दूसरा तत्त्व है नेता अर्थात् नायक। किन्तु सामान्यतः यह शब्द पात्रों का वाचक है। नाटक में अनेक पात्र होते हैं और इन्हीं के कारण घटनाएं घटती हैं। नाटक का प्रमुख पात्र नायक कहलाता है। नायक को विनीत, मधुरभाषी, त्यागी, चतुर, उच्चवंशीय और युवा होना चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र के मुताबिक नायक के चार भेद होते हैं – धीरोदात्त, धीरप्रशांत, धीर ललित, धीरोद्धत।

➢ कथोपकथन अथवा संवाद

कथोपकथन या संवाद को नाटक का प्राणतत्व कहा जाता है। पात्रों के आपसी वार्तालाप को कथोपकथन या संवाद कहते हैं। संवादों के द्वारा ही नाटक की कथा आगे बढ़ती है। अन्य साहित्यिक विधाओं में लेखक अपनी ओर से बहुत कुछ कह सकता है किन्तु नाटक का लेखक पात्रों के द्वारा ही अपने मंतव्य को समझाता है। इसी के द्वारा चरित्रों की चारित्रिक विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। अतः पात्रों के चरित्रोद्घाटन में संवाद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

नाटक में संवादों के लिए अनेक महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखा जाता है। जैसे, संवाद इतने लम्बे नहीं होने चाहिए कि पाठक या दर्शक ऊबने लगे, न ही संवादों को दार्शनिकता से बोझिल बनाना चाहिए। संवादों में तर्कशक्ति प्रबल होनी चाहिए। इस प्रकार संक्षिप्तता, सरलता, सहजता, सरसता, तार्किकता, सजीवता आदि गुणों से संवाद जीवंत हो उठते हैं।

➢ देशकाल अथवा वातावरण

नाटक में इसकी आवश्यकता स्वाभाविकता लाने के लिए करनी पड़ती है। नाटक में वर्णित घटनाएं प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने आती हैं तथा वर्ण्य युग की संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेश-भूषा देखकर हम सहज ही उस युग तक पहुँच जाते हैं और खुद को उसका हिस्सा समझने लगते हैं। नाटक में यथार्थता, सजीवता और स्वाभाविकता लाने के लिए नाटककार घटनाओं को उनके उसी परिवेश में चित्रित करता है। देशकाल वातावरण में भवन-निर्माण कला, मूर्तिकला, संगीत कला आदि का सहारा लिया जाता है तभी कोई नाटक सार्थक बनता है।

क्या आप जानते हैं ?

भारतीय काव्यशास्त्र के मुताबिक नायक के चार भेद होते हैं – धीरोदात्त, धीरप्रशांत, धीर ललित, धीरोद्धत।

➢ भाषा-शैली

किसी भी कृति में कथ्य को प्रस्तुत करने के ढंग को शैली कहते हैं। पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि से यह नाटक का महत्वपूर्ण तत्त्व है। नाटककार को विषय के अनुरूप शैली रखनी चाहिए। जैसे यदि विषय गंभीर है तो तर्क-वितर्कपूर्ण शैली होनी चाहिए। शैली के कई भेद हैं। जैसे – प्रतीकात्मक शैली, व्यंग्यात्मक शैली, खंडन-मंडन शैली, भावात्मक शैली इत्यादि। इसके अतिरिक्त स्वांग, रासलीला, रामलीला, तमाशा, आदि शैलियों पर कई नाटक खेले जा चुके हैं। प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी अनेक शैलियों को अपनाया गया है। जैसे नुक्कड़ नाटक, सड़क नाटक आदि। कविताओं पर आधारित गीतिनाटक में गीति तत्त्व की प्रमुखता होती है।

➢ उद्देश्य

नाटक-रचना का कोई न कोई उद्देश्य होता है और नाटककार इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति प्रायः नाटक के प्रमुख पात्र के माध्यम से करता है। जिस समस्या को लेकर नाटक लिखा जाता है, वही उद्देश्य होता है। उदहारण के लिए प्रसाद के नाटक **'चन्द्रगुप्त'** का उद्देश्य

अपनी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विरासत की पहचान कराना है। शंकर शेष के नाटक **'एक और द्रोणाचार्य'** का उद्देश्य आज की शिक्षा व्यवस्था पर व्यंग्य करना है।

➢ अभिनेयता

अभिनेयता नाटक का मुख्य तत्त्व है। नाटक अभिनय पर आधारित विधा है। नाटक को अभिनेता रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। अतः इसमें अभिनय तत्त्व का बहुत बड़ा स्थान है। रंगमंच पर अभिनेता अपने वास्तविक रूप को मारकर उसी रूप को अपने में जीवित करता है जिस रूप का किरदार उसे मिलता है। रंगमंच पर अभिनेता मुख्यतः चार प्रकार का अभिनय करके नाटकीय पात्र को रंगमंच पर प्रस्तुत करता है – आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक।

कहा जा सकता है कि नाटक अत्यंत ही लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण दृश्य विधा है। शास्त्रीय एवं सामाजिक आधार पर नाटक का अत्यंत महत्व है तथा यह सामान्य जनता की वस्तु है। सामान्य व्यक्ति के हित और मनोरंजन के लिए ही नाटक का निर्माण हुआ है।

एकांकी

एकांकी नाटक की तरह ही नाट्य वर्ग की विधा है। हिंदी में एकांकी नाटक अपने आधुनिक रूप में पश्चिम की देन है। परन्तु भारत के लिए साहित्य का यह नया रूप बिल्कुल अपरिचित नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही आज का एकांकी अंग्रेजी साहित्य से प्रेरित और प्रभावित है। परन्तु संस्कृत में भी एकांकी नाटकों की परंपरा थी, अतः आज के एकांकी में भी संस्कृत एकांकी की कुछ छाया का होना स्वाभाविक है। एकांकी का जो आधुनिक स्वरुप आज निश्चित सा हो गया है, उसकी उपज इंग्लैंड में 19वीं शती के अंत में **'कर्टेन-रेजर'** (curtain raiser) अथवा **'पट उत्थापक'** से मानी जाती है। समय-यापन के लिए नाटक से पूर्व दिखाए जाने वाले छोटे-छोटे नाटक को **'कर्टेन रेजर'** कहा गया। धीरे-धीरे नाटक की यह विधा लोकप्रिय बनती गयी और इसकी लोकप्रियता ने इसे स्वतंत्र रंगमंच प्रदान किया। यूरोप और अमेरिका के अनेक प्रतिभासंपन्न कलाकारों – इब्सन, गाल्जवर्दी, मेटरलिंक, स्ट्रिंडबर्ग, चेखब, सिमोनौव, काफमैंन, बेरी, प्रीस्टले आदि ने समृद्ध बनाया।

चित्र : डॉ. रामकुमार वर्मा

साभार: http://www.abhivyakti-hindi.org/sansmaran/vyaktitva/ramkumar_verma.htm

'एकांकी' शब्द का अर्थ है – एक अंक वाला। वर्त्तमान में इसका प्रयोग अंग्रेजी के **'वन एक्ट प्ले'** के पर्याय के रूप में होता है। नाटक का लघु रूप एकांकी है। इसके माध्यम से जीवन के किसी एक पक्ष, घटना, चरित्र, कार्य या विचार को प्रभावी ढंग से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि सामाजिकों के मन में सहज ही घर कर जाते हैं। एकांकी का नाटक से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कहानी का उपन्यास से, खंडकाव्य का महाकाव्य से।

हिंदी में प्रथम एकांकीकार डॉ. रामकुमार वर्मा माने जाते हैं। उन्होंने एकांकी तो लिखे ही, एकांकी के स्वरुप पर भी विचार किया है। डॉ. वर्मा के अनुसार –

"एकांकी में एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कुतूहल का संचय करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिलकर पुष्प की भांति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फ़ैलने की प्रवृति नहीं होती है।"

- **एकांकी के तत्त्व**

एकांकी में भी नाटक के समान ही सात तत्त्व होते हैं – कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, अभिनेयता, देशकाल या वातावरण, संवाद, भाषा-शैली, उद्देश्य।

➢ **कथावस्तु**

एकांकी का आकार लघु होने के कारण इसमें एक ही कथा होती है जो आदि से अंत तक आकर्षक और रोचक होती है। एकांकी की कथावस्तु में कौतूहल, उत्सुकता आदि का होना भी आवश्यक है। प्रायः एकंकीकारों की यही मान्यता रही है कि जहाँ कुतूहल अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाए, वहीं एकांकी को समाप्त हो जाना चाहिए।

एकांकीकार लोक-कथाओं, सामाजिक समस्याओं, मानवीय भावों, जीवन के चित्रों, पौराणिक गाथाओं, इतिहास, राजनीति, जीवन चरित्र सबसे केन्द्रीय विचार लेकर अपनी कथावस्तु का निर्माण कर सकता है। उसे कथा को ऐसे ढ़ांचे में डालना पड़ता है कि नाटकीय उद्देश्य की पूर्ति हो सके। इसके लिए कथा को काटना-छांटना पड़ता है।

एकांकी में वस्तु का रूप हमारे सामने तब आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। सफल एकांकी का प्रारंभिक वाक्य ही ऐसा होता है जिससे पाठक के मन में कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न होती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना कर नाटककार तुरंत वस्तु को क्षिप्र गति से नाटकीय स्थिति की ओर ले चलता है। पात्रों का परिचय प्रथम तो दिया ही नहीं जाता, आगे चलकर वे स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं, यदि पात्रों का परिचय दिया भी जाए, तो वह शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहिए, जिससे वस्तु दृष्टिगोचर होने लगे। सारांश यह है कि एकांकी का आरम्भ रोचक होना चाहिए।

कथावस्तु गतिशील होनी चाहिए। इसमें पुरानी स्मृतियाँ या विगत घटनाएं बीच-बीच में संचारी भावों की तरह व्यंजित या संकेतित हो सकती हैं, पर मुख्य कथा को चरम्बिदु की ओर क्षिप्र वेग से बढ़ना चाहिए। इसके दो साधन हैं संघर्ष और विकास। यह संघर्ष दो विरोधी पक्षों जैसे नायक और प्रतिनायक में या एक व्यक्ति के दो विरोधी भावों में हो सकता है। आज वे एकांकी अधिक सफल, कलात्मक और मनोवैज्ञानिक माने जाते हैं, जिनमें अंतःसंघर्ष हो अर्थात् पात्र का चारित्रिक द्वंद्व या मानसिक आन्दोलन प्रस्तुत किया जाय। इसी संघर्ष से एकांकी आदि से अंत तक गति पाता है, इसीलिए उसे एकांकी का प्राण कहा गया है।

क्या आप जानते हैं ?

डॉ. रामकुमार वर्मा संकलनत्रय को एकांकी की आत्मा मानते हैं और उसके अभाव में श्रेष्ठ एकांकी की रचना संभव नहीं मानते।

सफल एकांकी में एक-एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ़ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने कहा है -

"इसी घनीभूत घटनावरोह में चरम सीमा विद्युत की भांति गतिशील होकर आलोक उत्पन्न करती है और नाटककार समस्त वेग से बादल की भांति गर्जन करते हुए नीचे आता है।"

डॉ. वर्मा का मत है कि एकांकी की समाप्ति चरमसीमा की परिणति के साथ हो जानी चाहिए, जबकि डॉ. नगेन्द्र का मत है कि बिना चरम सीमा वाले एकांकी भी सफल हो सकते हैं, जैसे सेठ गोविन्ददास कृत **'स्पर्द्धा'**। एकांकी की सफल समाप्ति पर या तो किसी

रहस्य का उद्घाटन होकर समस्त कथा का रंग ही दूसरा हो जाता है अथवा उसमें घटना के फल का संकेत होता है और नाटककार को कुछ कहना शेष नहीं रहता। इस तरह एकांकी की कथावस्तु में तीन आवश्यक तत्त्व हैं – एकता, एकाग्रता और विस्मय।

➢ चरित्र-चित्रण

एकांकी में कहानी की तरह पात्रों की संख्या कम होती है। वे वास्तविक जगत के प्राणी, हमारी तरह हाड-माँस के पुतले, गुण-दोषों और जीवन की सामान्य समस्याओं से आक्रांत प्राणी होते हैं। नायक के चरित्र-चित्रण पर ही लेखक का ध्यान केन्द्रित रहता है, गौण पात्र प्रधान पात्र के चरित्र, परिस्थिति अथवा वातावरण को स्पष्ट करने में माध्यम का कार्य करते हैं। एकांकी की सफलता का एक लक्षण यह भी है कि उसके पात्र व्यक्ति-प्रधान हों, वे लेखक के हाथ की कठपुतली मात्र न रह जाएं।

एकांकी की दृष्टि से वे पात्र सर्वाधिक सशक्त माने जाते हैं जो अपने बाह्य कार्य व्यापारों के साथ ही चारित्रिक दृष्टि से अंतर्मुखी होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से एक ओर नाटकीय परिस्थितियाँ जन्म लेती हैं और दूसरी ओर इनकी आन्तरिकता बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष के कारण एकांकी में उचित घात-प्रतिघात और क्रिया-प्रतिक्रिया को जन्म देती है। एकांकी में पात्रों के विस्तार की संभावना अत्यंत ही कम रहती है। यहाँ पात्र कुछ देर ठहरते हैं, इसलिए उनकी प्रत्येक गति, प्रत्येक शब्द उनकी चारित्रिक विशिष्टता को प्रकट करनेवाला होना चाहिए।

➢ देशकाल-वातावरण

नाटक की तरह ही एकांकी में भी देशकाल का अत्यंत महत्व होता है। कथावस्तु जिस युग अथवा काल से सम्बंधित होता है उसी के अनुरूप वातावरण का निर्माण करने के लिए भाषा, पहनावा, स्थापत्यकला, मूर्तिकला और संगीतकला आदि का चयन किया जाता है। एकांकीकार साज-सज्जा, घटना का समय, स्थान आदि की सूचना से देशकाल की सृष्टि करता है।

संकलनत्रय का भी देशकाल और वातावरण में बहुत योगदान रहता है। संकलान्त्रय से अभिप्राय है – देश, काल और कार्य-व्यापार की अन्विति। देश के संकलन से तात्पर्य है सम्पूर्ण घटना एक ही स्थान पर घटित हो तथा उसमें दृश्य परिवर्तन, विशेष रूप से स्थान परिवर्तन कम से कम हों। काल की अन्विति से तात्पर्य है कि एकांकी में उतने ही समय की घटना दिखाई जानी चाहिए, जितने समय में वह वास्तविक जीवन में घट सके। ऐसी दो घटनाओं को एकांकी का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए जिनके मध्य वर्षों का अंतराल हो। कार्य-व्यापार की अन्विति से तात्पर्य है कि एकांकी में प्रासंगिक कथाओं को स्थान न दिया जाए तथा कार्य व्यापार की क्रमिकता बनी रहे। डॉ. रामकुमार वर्मा संकलनत्रय को एकांकी की आत्मा मानते हैं और उसके अभाव में श्रेष्ठ एकांकी की रचना संभव नहीं मानते।

क्या आप जानते हैं?

रूपक के दस भेड़ों में से पांच – भाण, व्यायोग, वीथी, अंक और प्रहसन एक अंक के हुआ करते थे। इन्हें आज की एकांकी नाटक का स्रोत माना जा सकता है।

➢ कथोपकथन अथवा संवाद

नाटक की भांति ही एकांकी में भी संवादों की भूमिका अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। संवाद जहाँ एक ओर कथानक को आगे बढ़ाता है वहीं दूसरी ओर पात्रों के चारित्रिक गुण-दोषों, आचार-व्यवहार, मनोभावों, सामाजिक स्थिति, वातावरण पर भी प्रकाश डालने का कार्य करता है। एकांकीकार जो कुछ भी कहना चाहता है वह संवादों के जरिये ही कहता है। संवाद योजना पात्र एवं परिस्थिति के अनुरूप होने चाहिए। स्वाभाविकता एवं सजीवता उसका अपरिहार्य गुण माना जाता है। वे संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण भी होने चाहिए। संक्षिप्तता के साथ ही सांकेतिकता भी एकांकी के संवादों की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है।

चूँकि एकांकी का कलेवर छोटा होता है अतः इसके संवाद भी छोटे-छोटे होने चाहिए। इन संवादों का प्रयोग इस तरह से होना चाहिए कि एक पात्र का कथन दूसरे पात्र को त्वरित प्रतिक्रिया के लिए मजबूर कर दे परन्तु यहाँ यह सावधानी आवश्यक है कि संवाद

वाद-विवाद का रूप न ले ले। संवाद को दीर्घता से बचाना भी आवश्यक है। इस तरह देखें तो एकांकी का कथोपकथन संक्षिप्त, स्वाभाविक, भावाभिव्यन्जक एवं प्रभावशाली हों।

➢ अभिनेयता

एकांकी नाटक की तरह ही दृश्य-काव्य है, इसलिए उसकी सफलता उसकी अभिनेयता पर निर्भर करती है। एक एकांकीकार के लिए यह आवश्यक है कि वह एकांकी लिखते समय मंच की सुविधाओं और आवश्यकताओं का भी ध्यान रखे। कार्य, गति, संवाद आदि सब कुछ संतुलित हो, किसी की भी अधिकता न हो। अभिनयशील संवादों के साथ उपयुक्त गति ही एकांकी को सफल बनाती है। एकांकी की अभिनेयता का ध्यान रखकर ही एकांकीकार रंग-निर्देश द्वारा पात्रों की रूप-कल्पना और रंगमंच की सम्पूर्ण व्यवस्था को समझाने का कार्य करता है। इन रंग-संकेतों से ही कभी-कभी एकांकी की शुरुआत भी हो जाती है, इन्हीं के द्वारा वह समस्या, पूर्वस्थिति, पूर्वघटनाओं आदि का संकेत दे देता है। अभिनेयता एकांकी का अनिवार्य गुण है और इसके लिए लेखक रंग-संकेत, प्रकाश-छाया के उपयुक्त प्रयोग संबंधी जानकारी भी देता चलता है। कुल मिलाकर एकांकी लेखक को रंगमंच के अनुकूल ही घटनाओं का निर्माण करना चाहिए ताकि उसमें अभिनेयता के गुण मौजूद हों। इसके लिए स्थितियों और क्रियाओं की कल्पना में अभिनेयता का ध्यान रखना आवश्यक होता है तथा अतिमानवीय दृश्यों से दूर रहना पड़ता है।

➢ भाषा-शैली

नाटक और एकांकी की भाषा-शैली नाटकीय तनाव से युक्त होती है। एकांकी की भाषा नाटक की तुलना में अधिक तीखी एवं व्यंग्यात्मक होती है। इसके साथ ही यहाँ भाषा कहानी अथवा उपन्यास के बनिस्पत कहीं अधिक सरल और स्पष्ट होती है। यह पात्रों की शिक्षा, परिस्थिति, वातावरण आदि से भी निर्धारित होती है। सभी पात्रों की भाषा एक-सी नहीं होती है, कह सकते हैं कि भाषा का पात्रानुकूल होना आवश्यक है। यही नहीं कथानक के हिसाब से भी भाषा की योजना करनी होती है। पौराणिक-ऐतिहासिक कथानक से युक्त एकांकी की भाषा समकालीन समस्याओं पर आधारित एकांकी से भिन्न होगी। संवादों की भाषा जितनी चुस्त, चुटीले एवं संक्षिप्त होंगे एकांकी उतनी ही सफल होगी। एकांकी में स्वगत कथन से भी यथासंभव बचना चाहिए।

➢ उद्देश्य

उद्देश्य के सन्दर्भ में कुछ भी अंतिम रूप से कहना उपयुक्त नहीं होगा। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य एवं भारतीय मतों में ऐक्य नहीं है। पाश्चात्य मान्यता में संघर्ष महत्वपूर्ण है जबकि भारतीय मान्यता में संघर्ष की प्रधानता है। एकांकी के कथानक, संवाद, भाषा, पात्र आदि सभी उद्देश्यपरक होते हैं। यहाँ कम से कम समय में दर्शकों से सम्बन्ध स्थापित कर उनकी भावनाओं को छेड़ने की चुनौती होती है। किसी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक समस्या आदि से दर्शकों को परिचित करा देने भर से लेखक को सफल नहीं माना जा सकता है।

चित्र: उपेन्द्र नाथ अश्क

साभार: http://samalochan.blogspot.in/2010/12/blog-post_6747.html

कुल मिलाकर देखें तो आधुनिक युग में एकांकी एक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित है। एकांकी पर विचार करते हुए डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है –

"आधुनिक एकांकी पश्चिम की देन है। एकांकी की कला एक श्रेष्ठ कला है और बड़ा नाटक लिखने की अपेक्षा यह अधिक कठिन है। उसमें पृष्ठभूमि, विषय-चयन, वातावरण, कथा-विस्तार, किसी एक मानवी भाव के चित्रण, सामाजिक आचार-विचार, समस्याएँ प्रस्तुत करने, रंगस्थल की व्यवस्था करने, उत्कर्ष-अपकर्ष, चरित्र-चित्रण, संवाद, कार्य-व्यापार, प्रभाव आदि की दृष्टि से लेखक को अत्यंत सतर्क रहने की आवश्यकता है। यह मत भ्रामक है कि एकांकी केवल छोटा नाटक है। नाटक और एकांकी में महान अंतर है। वे सामजिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, मनोवैज्ञानिक, हास्य-व्यंग्यपूर्ण आदि अनेक उद्देश्यों को लेकर लिखे गए हैं। आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं पर गहरी चोट करना एकांकी-लेखकों का प्रमुख कर्त्तव्य होता जा रहा है।"

हिंदी में रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि एकांकी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण नाम हैं।

स्व-मूल्यांकन प्रश्नमाला

बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. डॉ. नगेन्द्र ने आख्यान के कितने भेद गिनाए हैं ?

(क) चार (ख) नौ (ग) **सात** (घ) पाँच।

2. किस वाद्ययन्त्र पर गए जाने वाले गीतों को 'लिरिक' कहा जाता था?

(क) **लायर** (ख) वायलिन (ग) संतूर (घ) वीणा।

3. हिंदी-काव्य में मुक्त छंद का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले कवि कौन हैं?

(क) महादेवी (ख) **निराला** (ग) प्रसाद (घ) अज्ञेय।

4. नाट्यशास्त्र के प्रणेता कौन हैं ?

(क) भामह (ख) कालिदास (ग) भारतेंदु (घ) **भरतमुनि**।

5. हिंदी का प्रथम एकांकीकार किसे माना जाता है ?

(क) सेठ गोविन्ददास (ख) विष्णु प्रभाकर (ग) **राम कुमार वर्मा** (घ) विष्णु प्रभाकर।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **आख्यानपरक कविता का परिचय दीजिये।**
2. **गीतिकाव्य के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों का परीक्षण कीजिए।**
3. **नाटक में देशकाल और वातावरण की आवश्यकता पर चर्चा कीजिए।**
4. **एकांकी में संकलनत्रय का महत्व स्पष्ट कीजिए।**

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. **प्रगीतकाव्य के विभिन्न तत्वों को स्पष्ट करते हुए उसके महत्व पर चर्चा कीजिए।**
2. **नाटक और एकांकी के तत्वों की पारस्परिकता के परिप्रेक्ष्य में दोनों विधाओं का परीक्षण कीजिए।**
3. **मुक्तछंद एवं छंदमुक्त कविताओं के विकास और हिंदी साहित्य पर उसके प्रभाव का विवेचन कीजिए।**

सन्दर्भ-सूची

1. **काव्य के रूप, गुलाब राय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली।**
2. **काव्यशास्त्र, भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।**
3. **भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, सत्यदेव चौधरी, डॉ. शांति स्वरुप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली।**
4. **हिंदी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह।**
5. **साहित्यालोचन, बलबीर कुंदरा, सतीश बुक डिपो, नई दिल्ली।**

6. साहित्य चिंतन धारा, डॉ. अनिल कुमार, के. एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली।
7. साहित्यिक पारिभाषिक शब्द कोश, प्रो. महेंद्र चतुर्वेदी / प्रो. तारकनाथ बाली, बुक्स एन बुक्स, दिल्ली।
8. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ।